ISSN-2454-8286

कबीर का कवित्व

डॉ. वीरेंद्र नाथ मिश्र

एसोसिएट प्रोफेसर, विश्वविद्यालय हिंदी-विभाग,

बी. आर. ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर।

कवित्व है क्या? यदि संस्कृत-गर्भित पदावली के बीच-बीच में रत्न-जड़ित मोतियों की तरह उपमा, उत्प्रेक्षा, यमक, श्लेषादि अलकारों को करीने से सजाना-पिरोना ही कवित्व होता, तो कदाचित् केशव को साहित्य-सम्राट् का सबसे ऊँचा आसन और सबसे बड़ा सिंहासन मिला होता, परंतु वैसा न होने से स्पष्ट है कि कवित्व वह सब नहीं, उससे कुछ अलग है। तब कवित्व है कहाँ? अधीर हृदय और कंपित करों से प्रथम बार प्रिया का घूँघट उलट देने में कवित्व है; नई बनी माँ के हृदय में शिशु को देखकर जो उल्लास उमड़ पड़ता है, उसमें भी कवित्व है और नन्हा शिशु जब फीकी मटमैली चाँदनी में रो देता है या हल्की गुनगुनी धूप में किलक उठता है, तब उसमें भी तो कवित्व होता है, यद्यपि अनजाना ही वाह!

कबीर के काव्य में भी ऐसा ही अनजाना कवित्व लहराया था, सचमुच अनगढ़ और अस्त-व्यस्त जो सृजन की घड़ी में समझ नहीं रहा था कि उसकी सृष्टि कितनी बड़ी, मधुर और मार्मिक हो रही है। कबीर उन महान व्यक्तियों में से थे, जो स्वयं अपनी महत्ता से अनजान और अपरिचित होते हैं और समय रूपी सुधी समीक्षक जिनके शीश पर महनीयता का महत्तम मुकुट रखा करता है। कबीर ने जो कुछ सुनाया, गाया, गुनगुनाया (लिखना तो वे शायद जानते नहीं थे) उसमें ऐसा प्रवाह है, जो कहीं शैल-शिखर से गिरते वेगवान् प्रपात जैसा है और कहीं प्रशांत भाव से मंद-मंद अपने कोमल अरुणिम दल खोलते सुगंधित सरोरुह की तरह।

कबीर शास्त्रज्ञ नहीं, बहुश्रुत थे; अतः काव्य के मानदंडों से वे सर्वथा अपरिचित रहे होंगे—बुद्धि यह स्वीकार नहीं करती—किंतु कवित्व से भी ऊपर उठकर, भाव को जिधर चाहा उधर घुमा दिया, भाषा को जिधर चाहा उधर मोड़ दिया, अभिव्यक्ति के अरण्य में स्वच्छंद केसरी-सा विहार किया तथा सभी मान्यताओं, परंपराओं और रूढ़ियों को अपने दृढ आसन के नीचे दबाकर उस पर समाधिस्थ योगी-सा बेपरवाह बैठ गया। वास्तव में 'लीकि छाड़ि तीनै चलै—सायर, सिंह, सपूत' के वे एक सच्चे प्रमाण थे और शायद उनके एक ही व्यक्तित्व में इन तीनों का समावेश भी हो गया था। कबीर को कवित्व लक्षण-ग्रंथों से नहीं मिला था—वे तो स्वयं लक्षण-ग्रंथों का निर्माण करने वालों में से थे। उन्हें कवित्व मिला था लहरताल की लोल-लहरियों से जहाँ वे रक्षित हुए थे, निर्धन पर ममतामय नीरू-नीमा के प्रेम से जहाँ वे पालित हुए थे, और... और क्या उस निर्दोष करुणा की प्रतिमा से नहीं जिसने प्रसव वेदना सहन कर लोक-लाज के भय से कुंती की तरह कलेजे पर पत्थर रख कर्ण की भाँति फेंक दिया था।

कबीर रचित काव्य का सबसे आकर्षक और कवित्वमय भाग उनका सरस भावात्मक रहस्यवाद वाला अंश है जहाँ उनकी विरहिणी आत्मा उस परमपुरुष से अपना प्रणय-निवेदन करती है—दर्शन देने के लिए उसकी सौ-सौ मनुहार करती है, विरह में वेदनाकुल प्राणों का त्याग करना चाहती है और फिर बहुत कष्ट सहन करने के पश्चात् अपनी सूक्ष्म मानस-शैय्या पर अपने अलौकिक अशरीरी प्रियतम से लीला-विलास भी करती है।

रवि बाबू ने लिखा था कि 'मेरे हृदय में एक विरहिणी नारी बैठी रहती है जो अपने दुःख का गीत सुनाया करती है।' यह विरहिणी अजर-अमर है, सभी कवियों के हृदय में इसका निवास है और कबीर के प्राणों में अरूप होकर रोने वाली इस विरहिणी का कहना ही क्या? वह एक बार प्रियतम को पा लेना भर चाहती है, फिर तो आँखों की कोठरी में पुतली की पलंग बिछाकर और पलकों का चिक डालकर वह उसे रिझा लेगी, ऐसा उसका अदम्य विश्वास है। पर निर्मोही प्रियतम तो आते ही नहीं। विरहिणी सड़क के किनारे खड़ी होकर उत्सुक हृदय से प्रत्येक पंथी से पूछती है—'अरे! कोई कुछ तो कहो, वे कब आएँगे, कब मिलेंगे?' वह सोचती है, चकवी तो रात को बिछुरी थी, प्रभात होते ही आ मिली, यह मेरा

विरह कैसा है कि न दिन को मिल पाती हूँ, न रात को। बार-बार उठती हूँ, गिरती है, दर्शन की अत्यंत बलवती लालसा है। मैं तुम तक आ नहीं सकती, तुम्हें भुला नहीं सकती, निकट बुला नहीं सकती, क्या यूँ ही विरह में तपा-तपाकर जी लेते रहोगे?

सब पुकार व्यर्थ गई—उस निर्मम प्रियतम ने इस ओर दृष्टि तक नहीं डाली, पथ निहारते-निहारते तो इन बेचारी आँखों में झाँई पड़ गई, प्रिय पुकारते-पुकारते तो जीभ में छाले पड़ गए, पर प्रियतम न पिघले! तब? एक ही उपाय है, इस शरीर को जलाकर राख बना दूँ, जिससे धुआँ स्वर्ग तक पहुँच सके। कदाचित् वे राम करुणा करके इस अग्नि को बरसाकर बुझा दें या फिर इस शरीर को जलाकर स्याही बना लूँ और करंक की लेखिनी से राम का नाम लिख-लिखकर 'पाती' पठाऊँ तो कुछ हो सके, तन को दीपक बनाकर प्राणों की बाती डालकर तेल की जगह रक्त से सींच-सींचकर दीप को ज्योतित कर रही हूँ, अब कब मुख दिखलाओगे? विरहिणी को तो प्रियतम का दर्शन ही अभीष्ट हैं, उसे स्वयं को सजा-सजाकर शृंगार और संभार से क्या? जिस वेष में प्रिय मिलें, वही वेष उसे ग्राह्य है, इसीलिए—

'जिहि-जिहि भेसा हरि मिले,
सोइ-सोइ भेस धराऊँ।'

किंतु 'स्याह-स्याह रात का लाल-लाल प्रात है' के अनुसार विरह की दीर्घ साधना के अनंतर कबीर के जीवन में मिलन की घड़ियों का भी आगमन हुआ। वे अपना सारा पौरुष, सारा गर्व एवं सारी अक्खड़ता को भूलकर किसी नवीन किशोरी बाला के हृदय की भाँति कोमलता से गद्गद, लाज से विभोर और प्यार से विह्वल हो उठते हैं। प्रियतम के महल की ओर अग्रसर होते हुए उनके पैर सौ-सौ बल खाने लगते हैं, हृदय की धड़कन द्रुततर हो जाती है और घूँघट का पट कुछ आगे खिसक आता है। सारा शोक-संताप भुलाकर उसने प्रियतम से अनुरोध किया—'अँखियाँ अब अलसानी हो, पिया सेज चलो।' बस यही सहज सौंदर्य और वन्य माधुर्य कबीर-काव्य के प्राण हैं। उनके काव्य में नैसर्गिक कवित्व है जो हृदय से छलक पड़ा है—सयत्न होकर छलकाया नहीं गया है। चाहे वे आँखड़ियाँ, रतड़ियाँ और जीभड़ियाँ जैसे शब्दों का प्रयोग करते हुए उनके सौंदर्य के प्रति जागरूक हों या न हों, 'ले चल अपने देसवा' कहते समय इसका कवित्वमय व्यंजनात्मक सौंदर्य वे जानते हों या न जानते हों, पर इन सरल-सजल सीधे शब्दों में जो एक सहज माधुर्य और अत्यंत अयत्न रमणीयता है, निश्चय ही भावमय और श्लाघ्य है।

एक ओर सास का भय, देवरानी की लज्जा और ननदों का उपहास, दूसरी ओर किसी अपरिचित से प्रथम मिलन की अज्ञात आशंकाएँ—इन सबसे उस मुग्धा की जो दशा हो जाती है, वह अवर्णनीय है, यह वह स्थल है जहाँ कबीर में नवनीत-सी कोमलता, अनुभूति की तरलता और अभिव्यक्ति की सरलता मिलती है—

'पिया मोर जागे, मैं कैसे सोऊँ री।'

या,

'धीरे पाँव धरो पलंगा, जागत ननद जिठानी हो।'

यदि वह अपरिचित सो रहा, तो उसके पार्श्व में जाकर चुपचाप लेट जाना कुछ और बात है, पर उसके जागते समय जाना कुछ और है—इस दूसरी स्थिति में नवीना-नवोढ़ा का कार्य बहुत ही दुष्कर होता है। यद्यपि वह आगे बढ़ती है, किंतु उसका हृदय आत्यंतिक सशंकित हो उठता है और वह सोचने लगती है—

'मन परतीत न प्रेम रस, ना इस तन में ढंग।
क्या जानूँ उस पीव सूँ, कैसे रहसी रंग।।'

और, अंत में मधुर-मिलन के वे पावन क्षण भी आते हैं, जबकि सारी शंका, सारी लज्जा और सारे तर्क-वितर्क रस के प्रवाह में बह जाते हैं और फिर—

'कहै कबीर सुनो भई साधो,
लोकलाज बिछलानी हो'...
'कहत कबीर आनंद भयो है,
बाजत अनहद ढोल रे'...

यद्यपि कबीर की इन अलौकिक अनुभूतियों को शृंगार-रस की संज्ञा से अभिहित करना उनका खुले शब्दों में अपमान करना है, फिर भी इतना स्पष्ट है कि कवि कबीर ने साधक कबीर की अनुभूतियों का इतना अधिक साधारणीकरण कर दिया है कि उनकी असाधारणता रसानुभूति में बाधक सिद्ध नहीं होती। यदि हम एक ऐसा शृंगार-काव्य पढ़ें, जो सौंदर्य के स्थूल अवयवों एवं मिलन के नग्न दृश्यों से बिल्कुल शून्य हो तथा जिसमें कामुकता, अहं और स्वार्थ का सर्वथा विगलन हो गया हो, तो उसकी अनुभूति लगभग वैसी ही होगी, जो कबीर के काव्य से होती है। काव्यानुभूति के क्षेत्र में, जबकि असामान्य सामान्य में, अलौकिक लौकिक में, वीभत्स सौंदर्य में, शोक

आनंद में परिणत हो सकता है, तो अलौकिक प्रेम का परिष्कृत शृंगार में परिवर्तित हो जाना भी अत्यंत स्वाभाविक है, अन्यथा रहस्यवादी साहित्य काव्य न कहलाकर धार्मिक-दार्शनिक ग्रंथों की कतार में रखा जाएगा। कहना न होगा कि इस दृष्टि से कबीर एक सिद्धवाक् कवि हैं और उनकी कविता साहित्य-जगत् की अमूल्य संपदा।

हिंदी आलोचकों का एक वर्ग जो काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों के निकष पर कबीर-काव्य की परख करना चाहता है, कबीर को उत्कृष्ट कवि मानने को तैयार नहीं है। वस्तुतः यह वर्ग रीतिकालीन कवियों की 'कविताई' का कायल है जिसमें कोमल भाव-भंगिमा है, शब्दों का मनोयोग-पूर्ण स्थापन-कौशल है और उनके चित्र-गुण व संगीत-गुण को अभिव्यंजना की शक्ति से अधिक महत्त्व दिया जाता है, जिसमें छंदों और अलंकारों का 'सिर-चालन' है, भाषा की लुनाई है और तदनुरूप वर्ण्य विषय में पर्याप्त मसृणता है। पर ये सभी बातें काव्यत्व की उपांग तो हो सकती हैं, पर समग्रतः काव्यत्व एवं कविता को इन्हीं पर आधृत नहीं माना जा सकता। कविता तो हार्दिक, सहज-स्फुरित भावनाओं की अभिव्यक्ति है। वह तो किसी अनजाने शुष्क-नीरस प्रस्तर खंड के अंतस्थल को सहसा विदीर्ण कर मूर्त्त-प्रवाहित हो उठने वाली अंतःसलिला है जो ऊबड़-खाबड़ बनालियों में अपने ही आवेग से प्रवाहित होती हुई, स्वतः वेग से अपना पथ-निर्माण करती हुई हम तक पहुँच, हमें भी भाव-विह्वल किया करती है। उसके लिए नगरीय नदी-तटों या उपवनों-पार्कों के समान किसी भी प्रकार के कृत्रिम आधान की आवश्यकता नहीं रहा करती। कबीर के काव्यत्व या कवित्व-प्रतिभा का वास्तविक आकलन इन्हीं मूल स्वतःस्फूर्त्त तथ्यों के आलोक में ही किया जा सकता है, परंपरागत शास्त्रीय तटबंधों के बंदीखानों में बंद होकर नहीं।

अपनी हार्दिक अनुभूतियों को सहज स्वाभाविक भाषा में अभिव्यक्त करके कबीर ने काव्य के सच्चे स्वरूप का उद्घाटन किया। न कि तथाकथित आधुनिक और अत्याधुनिक कहे जाने वाले कवियों-लेखकों की भाँति कबीर ने अपने काव्य में अपरिपक्व विचारों, अस्पष्ट जीवन-दर्शन और अधकचरे मनोविज्ञान का मिश्रण-वमन किया, अपितु मस्तिष्क के शुष्क विचारों को हृदय की अनुभूति में अवगाहित करके लय-पगी भाषा में प्रकट किया। सच्चे कवि की वाणी में अभिव्यक्ति के साधन स्वतः ही प्रस्फुटित हो जाते हैं, इस कथन का प्रत्यक्ष समर्थन महाकवि कबीर का काव्य है। 'भाषा कैसी भी हो, भाव चाहिए मित्त' की उक्ति कबीर-काव्य पर पूर्णतः चरितार्थ होती है।

वस्तुतः रूप के द्वारा अरूप की अभिव्यक्ति, कथन के द्वारा अकथ्य का ध्वनन अमृतरूपा वाणी द्वारा ही संभव है जिसके सबसे बड़े समर्थ सिद्धवाक् साधक कबीर हैं, इसलिए उनके प्रकृत काव्य में छंद, रीति, वृत्ति, अलंकारादि काव्य के बाह्य व कृत्रिम उपादानों की खोज व्यर्थ है।

❑